

# भाषा, लिंग और सत्ता

सूज़न गेल

अनुवाद : अभिषेक अवतंस  
केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

गत कई वर्षों से भाषा से जुड़े मुद्दों का स्त्रीवादी विमर्श में बोलबाला है। यह तथ्य न केवल मनोविज्ञान, नृविज्ञान और इतिहास के लिए सार्थक है बल्कि साहित्यिक सिद्धांतों एवं भाषाविज्ञान के क्षेत्र भी इससे अछूते नहीं हैं। यद्यपि अनोखी बात यह है कि इससे निकलने वाले अधिकांश अध्ययनों में शायद ही कोई समानता हो। मनोविज्ञानी कैरोल गिलीगन स्त्री की 'आवाज' के बारे में लिखती हैं, इतिहासकार कैरोल स्मिथ-रोजेनबर्ग स्त्री के 'शब्दों' को सुनना चाहती हैं, तो नृविज्ञानी शर्ले आर्डनर और के. वारेन 'स्त्री की खामोशी और मौन' की चर्चा करती हैं। दूसरी ओर साहित्यिक आलोचकों की श्रेणी में एलेन शोवाल्टर से लेकर टोरिल मोई 'स्त्री की भाषा और शाब्दिक योजना' का अन्वेषण करती नजर आती हैं। परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि उन सबका इशारा एक ही तरफ है, चाहे वे उसे आवाज, शब्द, खामोशी कहें या स्त्री पुरुषों के दिन प्रतिदिन के वार्तालापों, भाषाई चरों की आवृत्ति, अपभाषा और शब्दाडंबरों का अध्ययन या समलैंगिक समूहों की एकप्राणता की परिचायक अभिव्यक्तियों की जाँच करने वाले भाषावैज्ञानिकों और नृविज्ञानियों की भाषा।

यह समझ लेना आवश्यक है कि हम एक विस्तृत पैमाने पर चल रही एक ऐसी बौद्धिक बहस के तहत बात कर रहे हैं, जिसमें मूलतः एक संगति और निरंतरता है। पहले स्त्रीवादी विमर्श में फोकस स्त्री के निर्वाह या रूढ़िबद्ध धारणाओं पर था, पर अब लिंग को स्त्री-पुरुषों के बीच के संबंधों की एक प्रणाली के रूप में आधुनिक परिभाषा दी जाने लगी है (कोन्वेल 1987, जेरसन व पेइस 1985)। परिणामस्वरूप किसी भी सामाजिक समूह के अन्दर निहित लैंगिक संबंधों को अब श्रम के लैंगिक विभाजन, प्रतीकात्मक दृश्यों के एक समूह और स्त्रियों एवं पुरुषों द्वारा भिन्नार्थी अभिव्यक्तियों को व्यक्त करने की संभावना से उत्पन्न माना जाने लगा है। इस बहस की एकरूपता का दूसरा स्रोत यह भी है कि लगातार स्त्रियों एवं पुरुषों के बीच के 'अंतर' बनिस्पत वर्चस्व और शक्ति को सापेक्ष महत्व मिल रहा है। अंतर पर केन्द्रित विचारों एवं वर्चस्व पर केन्द्रित विचारों के बीच की विषमता आज भी बहस के लिए प्रासंगिक है, परन्तु अधिकांश स्त्रीवादी विद्वानों का मानना है कि अब ऐसे गतिहीन विरोधों से आगे जाना होगा (डी. लियोनार्डो 1987, स्कॉट 1988)।

इतनी सारी समानताओं के बावजूद एक दुविधा की स्थिति अब भी बरकरार है। भाषा और लिंग शीर्षक युक्त किसी भी किताब को खोलने पर प्रायः हमें सर्वनाम, प्रागशास्त्र, शाब्दिक विकल्पनों के साथ-साथ टेक्सटुअल जिनेसिस, अरब महिलाओं की कविताएँ एवं लिंग स्वप्रतिनिधित्व की राजनीति आदि के लेखों से वास्ता पड़ता है। सवाल यह है कि इन सभी कार्यों में आखिर समानता क्या है? इस बात पर कोई मतभेद नहीं है कि स्त्रीवादी विमर्श में अनेक विषयों का समागम और उनकी बहुमुखी पारिभाषिक शब्दावलियाँ एवं हित ही उनकी प्रमुख शक्ति है, पर मेरा ऐसा मानना है कि भाषा और

लिंग पर इन विभिन्न दिशाओं में हो रहे विमर्श को एक-दूसरे से कुछ अधिक सीखना होगा।

इस लेख में मेरे दो उद्देश्य हैं:— पहला कि मैं यह उदाहरण देना चाहती हूँ कि भाषा और लिंग पर विभिन्न दिशाओं में चल रहे कोई दो अनुसंधान किस प्रकार से एक-दूसरे के पूरक बन सकते हैं। दूसरी बात मैं यह कहना चाहती हूँ कि सत्ता/प्रभुत्व की नई परिभाषा किस तरह से एक विस्तृत पैमाने पर एकीकरण का कार्य कर रही है, जिसे हम वर्तमान परिप्रेक्ष्य में स्त्रीवादी अनुसंधान के परिणामों में देख सकते हैं।

## समाज भाषाविज्ञान और सांस्कृतिक अध्ययन

पहले-पहल भाषा एवं लिंग पर चल रहे उन दो प्रकार के अनुसंधानों का मिलन होना आवश्यक है जिन्हें हम आम तौर पर विकल्पनवादी समाज भाषाविज्ञान और प्रतीकात्मक सांस्कृतिक अध्ययन कहते हैं। शहरी समुदायों के ऊपर किए गए विकल्पनवादी अध्ययनों ने भाषा-परिवर्तन के लिए जिम्मेदार आन्तरिक एवं बाह्य शक्तियों के ऊपर प्रकाश डाला है। उनसे हमें यह भी पता चला है कि लिंग का अंतर किस तरह भाषा-परिवर्तन की प्रक्रियाओं में केन्द्रीय भूमिका निभाता है। परन्तु विकल्पनवादियों ने प्रायः भाषाई चरों की गिनती कर उन्हें वक्ता के लिंग से जोड़कर यह जानने का प्रयास किया है कि क्यों पश्चिम की शहरी महिलाएँ आम तौर पर प्रतिष्ठित भाषा रूपों का प्रयोग करती हैं और सभी वर्गों के शहरी पुरुष श्रमिक वर्ग के भाषा रूपों को महिलाओं की अपेक्षा अधिक उपयुक्त मानते हैं। आम तौर पर समाज भाषावैज्ञानिकों ने अपने परिणामों को समझाने के लिए सार्वभौमिक यौन प्रवृत्तियों, या सत्ता के वैश्विक अन्तरों का सहारा लिया है (उदाहरणस्वरूप लाबोव 1972, ट्रडजिल 1975)। इसी तरह से अन्य समाज भाषावैज्ञानिकों ने स्त्री-पुरुष वार्तालाप में होने वाले मौन के क्षणों या संभावित व्यवधानों को खोजा एवं गिना है और इसके द्वारा सत्ता के संबंधों को समझने का प्रयास किया है।

पर इन सभी कार्यों में इस समझ की कमी है कि स्त्रियों की भाषा, पुरुषों की भाषा और प्रतिष्ठित या प्रभावशाली भाषा आदि वर्ग सिर्फ वक्ताओं की पहचान मात्र से निर्देशित नहीं होते। वास्तव में कभी-कभी वक्ता का आलाप ही उसकी पहचान बनाता है। ये वर्ग, साथ ही स्त्री-सुलभ और पुरुष-सुलभ जैसे कुछ विस्तृत वर्ग संस्कृति जनित होते हैं। ये वर्ग समय के साथ बदलते रहते हैं और सिलसिलेवार रूप में संस्कृति के अन्य आयामों, जैसे प्रकृति, सत्ता और ऐच्छिक नैतिक व्यवस्था से जुड़े होते हैं।

जैसा कि हम जानते हैं कि स्पष्टवादिता एवं रुखाई से बात करने की शैली कुछ संस्कृतियों में पुरुषों से जोड़ी जाती है, तो कुछ में स्त्रियों से। कुछ संस्कृतियों में वाक्पटुता को राजनीतिक सत्ता के लिए अनिवार्य माना जाता है, तो कुछ में यह घातक सिद्ध हो सकती है। लिंग, प्रतिष्ठा और भाषाई आदतों की कड़ियाँ प्राकृतिक रूप से एक दूसरे से नहीं जुड़ी हैं, बल्कि संस्कृति जनित हैं (बोरकर 1980)। असल में स्त्रियों के भाषा रूप कभी-कभी पुरुषों के भाषा रूपों से प्रतीकात्मक रूप से विरोधी होते हैं, जिसमें एक के द्वारा की गई बात का खण्डन दूसरे के द्वारा किया जाता है। इसका एक सर्वोत्तम उदाहरण मालागसी भाषा में देखा जा सकता है, जिसमें स्त्रियों की भाषा रूखी और स्पष्ट होती है और पुरुषों की भाषा बुरकापोश तथा संकुचित होती है (कीनन 1974,1989)। क्या विरोधी या विपरीत है, यह संस्कृति द्वारा परिभाषित होता है और ये

परिभाषाएँ ही लिंगों के रूपों के अंतर की जनक होती हैं। इस तरह से हम उन्हें हैलिडे द्वारा प्रतिपादित प्रति-भाषाएँ भी कह सकते हैं। वक्ता प्रायः इन अंतरों को स्त्री-पुरुषों के सन्दर्भ में अलग-अलग जोड़ते हैं। परन्तु ऐतिहासिक विश्लेषण हमें यह बताता है कि अभी और वैचारिक परिशोधन की जरूरत है जिससे हम समझ सकें कि किस तरह सामाजिक समूह इन रूपों के अंतर को प्रकृति प्रदत्त मानने लगते हैं।

मौन एक अच्छा उदाहरण है। स्त्रीवादियों ने पश्चिमी समाज की महिलाओं के सार्वजनिक जीवन में मौन की कड़ी आलोचना की है। यह माना जाता है कि यह स्त्रियों की शक्ति विपन्नता एवं अकर्मण्यता का परिणाम और प्रतीक है। यह भी कहा जाता है कि जिनकी जबान नहीं होती वे इतिहास या अपने जीवन की धारा को नहीं बदल सकते। इसके ठीक विपरीत हम उन जातिगत अध्ययनों को भी देखते हैं जो मौन की विरोधाभासी शक्तियों की तरफ संकेत करते हैं; विशेषकर संस्थागत स्थितियों में। धार्मिक कन्फेशनों, आधुनिक मनोचिकित्सा, नौकरी के साक्षात्कारों, मौखिक परीक्षाओं एवं पुलिस की पूछताछ में अवपीड़न के संबंध उल्टे हो जाते हैं। जहाँ स्वप्रदर्शन जरूरी होता है, वहाँ एक मौन श्रोता ही निर्णय लेता है और इस प्रकार अपनी प्रभुता का दूसरे पर प्रदर्शन करता है (फूको 1979)। प्रायः यह देखा गया है कि अमेरिकी घरों में मौन पुरुष शक्ति का एक अच्छा हथियार है (साटेल 1983)। परन्तु मौन शक्ति संपन्नों के खिलाफ सुरक्षा का उत्कृष्ट हथियार भी बन सकता है, जैसा कि पश्चिमी अपाची लोगों ने श्वेत बाहरी लोगों को दरकिनार एवं रोकने के लिए किया था (बासो 1979)। परन्तु मौन के अर्थ की सीमाएँ यहीं समाप्त नहीं होतीं। 17वीं सदी के इंग्लैण्ड के क्वेकरों, जिनमें स्त्रियाँ एवं पुरुष दोनों शामिल थे, उन स्थितियों में खामोश रहकर जहाँ उनसे बोलने की माँग की जाती थी, अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता का परिचय देते थे (बाउमैन 1983)। यह अकर्मण्यता का विपरीत रूप था। दरअसल एक प्रकार का राजनीतिक विरोध (मौन से संबंधित अन्य दृष्टिकोणों को जानने के लिए देखें लाकोफ, 1995; मेंडोजा-डेंटोन, 1995)।

‘र’ रहित प्रयोग, ‘ओ’ सहित प्रयोग, विराम या किसी भी अन्य भाषाई रूप की तरह मौन के भी कई अर्थ हैं और इसका प्रभाव विभिन्न भाषाई विचारों के अंतर्गत संस्थागत और संस्कृति विशेष परिस्थितियों में अलग-अलग होता है। इसका एक बेहतरीन उदाहरण दोरिंदा ओट्ट्रम (1987) और जोन लैंडस् (1988) द्वारा वर्णित फ्रांस की क्रांति के दौरान संभ्रांत वर्ग की स्त्रियों की दुविधा का अध्ययन है। फ्रांस की क्रांति के समय के सम्भ्रांत साहित्य में पुरुषों के गुणों को महिमामण्डित किया गया था और स्त्रियों के प्रभाव को सम्भ्रांत स्त्रियों द्वारा समर्थित पुराने शासन की संरक्षण प्रणाली, यौन उपकार एवं भ्रष्टाचार से जोड़ा था। क्रांतिकारी सिद्धांतवादियों ने जानबूझकर एक प्रतिस्त्रियोचित तर्क को अपनाया था। उनके मतानुसार राजनीतिक क्रांति तभी हो सकती थी, जब स्त्रियों और उनके भ्रष्ट प्रभावों को सार्वजनिक भाषणों और शक्ति के अभ्यास से दूर रखा जाए। संक्षेप में कहा जाए तो ऐसी नयी धारणा के कारण क्रांति के दौरान पुरानी शासन प्रणाली में क्रियाशील उच्च वर्ग की सम्भ्रांत स्त्रियों को हाशिए पर धकेल दिया गया और महिला राजनीतिक कार्यकर्ताओं पर घातक हमले किए गए। इस नई विचारधारा के अंतर्गत सम्भ्रांत स्त्रियों का सार्वजनिक स्थानों पर बोलना एवं कार्य करना उनकी यौन संलिप्तता का परिचायक था। अतः स्त्रियों का राजनीतिक होना उनकी भ्रष्टता का सूचक था। सार्वभौम समानता का प्रसिद्ध क्रांतिकारी नारा सिर्फ पुरुषों के लिए लागू होता था। इसलिए हम देखते हैं कि राजनीतिक रूप से क्रियाशील स्त्रियाँ, जैसे जिन रोलेण्ड, उन प्रभावशाली मंचों का आयोजन तो कर लेती थीं, जिनमें पुरुष दिन प्रतिदिन की समस्याओं

पर बोलते थे, परन्तु उनके संस्मरणों एवं पत्रों से हमें यह पता चलता है कि वह सब एक दर्दनाक समझौता था। अपने सम्मान को बचाये रखने के लिए उन्हें खामोश रहना पड़ता था।

उक्त उदाहरण से हम यूरोप में स्त्रियों के मौन की प्रांसगिकता और स्त्रियों एवं सार्वजनिक भाषण के जटिल और परोक्ष रूप से संचालित संबंधों से रुबरु होते हैं। इस प्रकरण में हम उन परिभाषाओं को, स्त्री की भाषा की सीमाओं का वैचारिक प्रबंधन, निर्धारण एवं वर्णन कर रहे क्रांतिकारी सिद्धांतवादियों एवं ज्ञानोदय के युग के दार्शनिकों की कलम से उभरता हुआ देख सकते हैं।

अगर हम विकल्पनवादी समाज भाषाविज्ञान की ओर लौटें तो मेरा विचार है कि हमें संस्कृति के विद्यार्थियों से सुझाव मिल सकता है। उदाहरणस्वरूप अमेरिकी और ब्रिटिश शहरों के पुरुषों द्वारा श्रमिक वर्ग के भाषा विकल्पनों (रूपभेदों)की तरफ रुझान को एक विस्तृत सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पटल पर देखा जा सकता है। ये भाषाई सबूत आश्चर्यजनक रूप से एक सामान्य प्रतीकात्मक ढाँचे से मेल खाते हैं, जिसमें पुरुषत्व, वस्तुतः कठोरपन एवं श्रमिक वर्ग की संस्कृति से जुड़ा होता है, न सिर्फ भाषाई तौर पर बल्कि संस्कृति के अन्य अवयवों जैसे मनोरंजन और पहनावे में भी। दूसरी तरफ, स्त्रीत्व प्रतिष्ठा, भद्रता और उच्च संस्कृति से जुड़ा होता है। निश्चित रूप से यह कोई विडंबना नहीं है कि ये परस्पर विरोधी अवधारणाएं 19वीं सदी में अटलांटिक के दोनों तरफ साहित्य, लोकप्रिय संस्कृति और वैज्ञानिक विमर्श में उभरी हैं और आज भी लिंग की छवि के लिए प्रांसगिक हैं (उदाहरण स्वरूप हालटुनेन 1982, स्मिथ—रोजेनबर्ग 1985)। इन परस्पर विरोधी अवधारणाओं का भाषाई पर्दे पर मंचन ही उन्हें मजबूती और पुनर्जन्म देता है। इनका भाषा व्याकरणों और आचार-व्यवहार की पुस्तकों में सम्मिलन ही इन्हें एक सांस्थानिक स्वरूप प्रदान करता है (क्रेमाराए 1980)। परन्तु एक विस्तृत प्रतीकात्मक विरोध ही भाषाई विकल्पनों या रूपभेदों को सार्थक बनाता है, जिससे उनका इस्तेमाल व्यंग्यात्मक नाटकों, पैरोडी और द्वयर्थकता में हो सके।

यदि विकल्पनवादियों ने वार्तालाप के वैचारिक एवं प्रतीकात्मक पहलुओं की उपेक्षा की, मसलन—भाषा, लिंग एवं सत्ता के उन सांस्कृतिक निर्माणों कि जो स्त्रियों एवं पुरुषों की अपने भाषा रूपों के प्रति अवधारणा को संचालित करते हैं, तो दूसरी तरफ के विश्लेषकों ने भी समान्तर रूप से कई चीजों की उपेक्षा की है। कुछ नृविज्ञानियों का मानना है कि उनके द्वारा अनुसंधान से गुजरी स्त्रियाँ खामोश या कम बोलने वाली होती हैं। यह निष्कर्ष प्रायः वार्तालाप की स्थितियों, साक्षात्कार प्रक्रिया की सीमाओं और अनुसंधानित व्यक्तियों की भाषाई परम्पराओं से अनजान होते हैं। सभी प्रकार के सम्प्रेषणों की पारिस्थितिकता समाज भाषावैज्ञानिकों के लिए एक आम बात है, परन्तु लोकप्रिय संस्कृति के विद्यार्थी इस पर नजर नहीं रख पाते।

जेनिस रैडवे (1984) ने हमें यह दिखाया है कि यदि हम अमेरिकी पल्प रोमानी उपन्यासों की विषयवस्तु देखें तो यह निष्कर्ष निकालना मुश्किल नहीं होगा कि जो स्त्रियाँ इन उपन्यासों को पढ़ती हैं, वे स्त्री-उत्पीड़न एवं पुरुष-बर्बरता के दृश्यों की मूक दर्शक होती हैं। परन्तु रैडवे सिर्फ इन उपन्यासों की विषयवस्तु को ही नहीं जाँचती, बल्कि वार्तालाप के समाज-भाषाविज्ञान और नृजातिविज्ञान से प्रेरित होकर पढ़ने की प्रक्रिया, तात्कालिक परिस्थिति और पढ़ने वाली स्त्री के ग्राह्य अर्थों का भी विवेचन करती हैं। रोमानी उपन्यासों के अनेक पाठकों के लिए उन्हें पढ़ने की प्रक्रिया, जिसे वे प्रायः चुराए हुए कुछ निजी पलों में करते हैं, एक शिक्षाप्रद और सामाजिक रूप से

लाभदायक अनुभव होता है। एक ऐसा काम जिसे स्त्रियाँ स्वयं अपने लिए करती हैं। यह उनका अपनी स्वायत्तता और अपनी जिन्दगी के आत्मत्याग के खिलाफ लड़ने का एक तरीका है। अतः तात्कालिक प्रदर्शन निष्पादित या ग्रहणशील सन्दर्भों की दिशा में योग्य ध्यान ने हमारी लोकप्रिय संस्कृति की समझ को विस्तृत किया है और उसी तरह नई दिशाएँ दी हैं, जिस तरह से बृहद् प्रतीकात्मक सन्दर्भों ने समाज-भाषावैज्ञानिक विकल्पनों को समझने में हमारा साथ दिया है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के अध्ययनों को एक दूसरे से और अधिक संघटित होना चाहिए।

यद्यपि ऐसी विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रविधि का परस्पर आदान-प्रदान बहुत ही लाभकारी है, परन्तु सत्ता का सुस्पष्ट विवेचन और अधिक लाभ की आशा दिलाता है। शक्ति से जुड़े परम्परागत विचारों में संसाधनों तक पहुँच और निर्णय लेने की प्रक्रिया में भाग लेने को महत्त्व दिया गया है (देखें ल्यूक्स 1974)। यह सच है कि भाषाई और मेलजोल से जुड़े पहलू इस पहुँच से अंतरंगता के साथ जुड़े होते हैं, परन्तु शक्ति की ये अवधारणाएँ दो सर्वथा भिन्न तथ्यों, जिनका अध्ययन अनेकार्थी 'स्त्रियों के शब्द' शीर्षक के अंतर्गत ही हो रहा है, के महत्वपूर्ण संबंधों को छिपाती हैं।

भाषावैज्ञानिक और समाज-भाषावैज्ञानिक जो दिन-प्रतिदिन के वार्तालापों का स्वनिम, अर्थ, संरचना और प्राग-शास्त्रीय स्तर पर अध्ययन करते हैं, जबकि मानववैज्ञानिक, इतिहासकार, मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक आलोचक प्रायः आवाज, भाषा और शब्द जैसी शब्दावलियों का प्रयोग एक शक्तिशाली रूपक के रूप में करते हैं। इस तरह के प्रयोगों का समाजविज्ञान में व्यापक और प्रभावशाली उपयोग हो रहा है। इस तरह की शब्दावलियों का नियमित रूप से उपयोग दिन-प्रतिदिन के वार्तालापों के सन्दर्भ में नहीं किया जाता, बल्कि एक विस्तृत पैमाने पर, स्वयं और सामाजिक जीवन के एक विशिष्ट दृष्टिकोण की सार्वजनिक अभिव्यक्ति को दर्शाने के लिए किया जाता है। इसका उद्देश्य अपने निजी अनुभवों न कि दूसरे शक्तिशाली लोगों द्वारा तय किये गये व्यवहारों को प्रतिनिधित्व देने का प्रयास है। उसी तरह से 'मौन' और 'मूकता' जैसे शब्दों का इस्तेमाल संवाद के क्षणों में बोलने की असमर्थता या अनिच्छा को दिखाने के लिए नहीं किया जाता, बल्कि अपनी सामाजिक रूप से सार्थक एवं भिन्न प्रोक्ति के सृजन में विफलता को दिखाने के लिए किया जाता है। यहाँ स्त्रियों के शब्द लैंगिक चेतना या एकतरफा दृष्टिकोण के उपलक्षक हैं। अतः लैंगिक अंतरों पर होने वाले अध्ययन रोजाना के वार्तालाप में व्याप्त भाषा या मेलजोल की सामान्य विशेषताओं पर फोकस करते हैं, जबकि स्त्रियों की आवाज पर होने वाले अध्ययन मूल्यों और मान्यताओं पर अधिक जोर देते हुए ये पूछते हैं कि क्या स्त्रियों के पास पुरुषों या अन्य किसी प्रभुत्ववादी आधिकारिक प्रोक्ति से अलग आत्म नैतिकता या सामाजिक यथार्थ से जुड़े कोई अपने मूल्य या मान्यताएँ हैं!

## सत्ता और वर्चस्व

जैसा कि मैंने ऊपर के अंशों में कहा है कि समाज-भाषावैज्ञानिक अध्ययन एवं स्त्रियों के मूल्यों एवं मान्यताओं के ऊपर केंद्रित अध्ययन न सिर्फ एक दूसरे को परस्पर प्रकाशित करते हैं, बल्कि महत्त्वपूर्ण यह है कि वे एक दूसरे से मूल रूप में जुड़े हुए हैं। दोनों इसकी जाँच करते हैं कि लिंग सत्ता से कैसे जुड़ा है, यहाँ सत्ता को प्रतीकात्मक वर्चस्व की नई परिभाषा दी गई है।

प्रतीकात्मक वर्चस्व के परिचित और प्रतिष्ठित उदाहरणों में कुछ भाषाई योजनाओं, विकल्पनों या शैलियों को अधिक मूल्य दिया जाता है और वे अन्यो से अधिक सत्तावादी होती हैं (उदाहरण स्वरूप बोरदू 1977, लियर्स 1985)। इस वर्चस्व का कारण यह नहीं कि वे अन्य रूपों से अलग होते हैं; बल्कि यह है कि उन्हें उन लोगों द्वारा भी ज्यादा कारगर या विश्वसनीय माना जाता है, जिनका उन रूपों पर कोई नियंत्रण नहीं होता। परिणामस्वरूप लोग अपने स्व-रूपों को दोयम दर्जे का मानते हैं। इसके आदर्श उदाहरणों में मानक भाषा बनाम अल्पसंख्यक भाषा या जातीय बोलियाँ, कर्मकाण्ड की भाषा बनाम बोलचाल की भाषा को गिना जा सकता है। परन्तु सम्मानित और सत्तावादी भाषाई व्यवहार सिर्फ साधारण रूप नहीं, वे सामाजिक जीवन की विशिष्ट सांस्कृतिक परिभाषाओं का मंचन भी करती हैं। जब ये परिभाषाएँ श्रम के विभाजन और विद्यालयों जैसे सामाजिक संस्थानों में अवतरित होती हैं, तब वे कुछ समूहों के लिए अन्यो की तुलना में बेहतर साबित होती हैं। इन प्रबल भाषाई व्यवहारों (जैसे मानक भाषा) के माध्यम से ही विद्यालय जैसी संस्थाओं में वक्ता अपने समूह के लोगों, कार्यो और घटनाओं की परिभाषाओं को अन्य लोगों पर थोपते हैं। दूसरो द्वारा अपने नजरिये को मनवाने या लागू करवाने की क्षमता ही प्रतीकात्मक वर्चस्व का शक्तिशाली पहलू है। वर्चस्व और आधिपत्य न सिर्फ सार्थक व्यवहारों से जुड़े हैं, बल्कि सांस्कृतिक अंतर्वस्तु से भी मिले हैं। अतः प्रतीकात्मक वर्चस्व की धारणा भाषावैज्ञानिकों और समाज भाषावैज्ञानिकों के मामले को लैंगिक चेतना का अध्ययन कर रहे समाज वैज्ञानिकों के विस्तृत सांस्कृतिक प्रश्नों से जोड़ती है।

परन्तु यह जानना आवश्यक है कि वर्चस्व और शक्ति शायद ही बिना किसी चुनौती के रह सकते हैं। प्रबल सांस्कृतिक व्यवस्था का प्रतिरोध दो तरीकों से होता है। पहला जब अवमूल्यित भाषाई रूपों या व्यवहारों (जैसे क्षेत्रीय बोलियाँ, अपभाषा, स्त्रियों के मेल-मिलाप की शैली, या कविता और अल्पसंख्यक भाषाएं) का भीषण अवमूल्यन और कलंकित किये जाने के बावजूद प्रयोग एवं सेलिब्रेशन किया जाता है। दूसरा जब ये अवमूल्यित व्यवहार सामाजिक विश्व के वैकल्पिक मॉडल प्रस्तुत करते हैं। ऐसे प्रस्तावों पर नियंत्रण और उन संसाधनों का नियंत्रण जिनसे उन प्रस्तावों का संप्रेषण और प्रजनन होता है, सामाजिक शक्ति के स्रोत कहलाते हैं। ऐसे वर्चस्व की प्रतिक्रिया अनेक प्रकार से की जाती है, जैसे प्रतिकार, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, संलिप्तता, समायोजन या अपरोध कार्रवाई।

वर्चस्व और प्रतिरोध की सामान्य अवधारणा को किसी न किसी प्रकार से कई प्रभावशाली सामाजिक चिंतकों ने प्रतिपादित किया है, जिसमें ग्रामशी, फूको, बोरदू आदि के नाम शामिल हैं। यह बात अलग है कि उन्होंने हमेशा इसे भाषा पर लागू नहीं किया है, पर इन सिद्धांतों से लिंग की सामाजिक संबंधों पर आधारित परिभाषा गायब है। यही कारण है कि लैंगिक वर्चस्व के ऊपर किये गये समकालिक कार्यो विशेषकर भाषाई प्रतिरोध के कार्यो में सामाजिक सिद्धांतों की घोर आलोचना होती है।

यह हमें फिर से अंतर और प्रभुत्व से जुड़ी स्त्रीवादी बहस की ओर ले जाता है। यदि हम स्त्रियों के रोजाना के वार्तालाप और स्त्रियों की भाषाई शैलियों एवं सांस्कृतिक प्रोक्तियों को एक प्रकार का प्रतिरोध मानते हैं, तो यह कहा जा सकता है कि अंतर और प्रभुत्व हमेशा एक दूसरे से गुथे रहते हैं। हम किसी भी संस्कृति में उपेक्षित 'भिन्न आवाजों' को स्पष्ट सुन नहीं पाते। न ही स्त्री संस्कृति और पुरुष संस्कृति की कोई अलग-अलग पहचान संभव है, परन्तु भाषाई व्यवहार ही परस्पर प्रतिस्पर्धी और समकालीन

सांस्कृतिक विरोधी परिभाषाओं के खिलाफ प्रतिरोध, प्रतिकार और संघर्ष में लग रहते हैं। पर यह भी सच है कि ऐसे व्यवहार प्रभुत्व के साये तले ही पनपते और उसके विरोध में खड़े होते हैं। विरोध के प्रयासों की जाँच करने पर हमें ज्ञात होगा कि कहाँ सत्ता का प्रदर्शन हुआ है, और सत्ता के काम करने की प्रक्रिया को जानने से ही हमें संभव प्रतिरोध के चिह्न दिखाई देंगे (अबु-लुघोड 1990)।

दो उदाहरण इन विचारों को स्पष्ट करेंगे। सबसे पहले कैरोल एडेलस्की का एक अमेरिकी कॉलेज की मिश्रित लिंग वाली शैक्षिक सभाओं में विभिन्न प्रकार के 'तलों' (Floors) का अध्ययन। दो प्रकार के अप्रत्यक्ष नियम इन सभाओं में दिए जाने वाले वक्तव्यों की लंबाई और गुणवत्ता को नियंत्रित करते नजर आते हैं। पहले प्रकार के तल (Floor) के प्रकरणों में वक्ता देर तक बोले और कुछ ही अवसरों पर बोले। भाषणों की शुरुआत झिझक से हुई, पर लोगों ने तथ्यों और अपने विचारों को सामने रखा। दूसरे 'तल' के प्रकरणों में अतिव्यक्ति थी, एवं एक साथ ही बोला गया। परन्तु वक्ताओं में झिझक नहीं देखी गई। दूसरे प्रकार के तल के प्रकरणों में वक्ताओं ने एक ही प्रकार के संप्रेषण प्रकार्य का निष्पादन किया, जैसे सुझाव देना, बहस करना, हामी भरना, मजाक करना और छेड़ना। पहले प्रकार के तल में पुरुषों ने सभा पर अपना एकाधिकार दिखाया और ज्यादा देर तक बोले। दूसरे प्रकार के तल में पुरुषों और महिलाओं सभी ने सभा में भाग लिया और एक तरह के भाषा प्रकार्यों का उपयोग किया। महत्वपूर्ण यह है कि पहले प्रकार के तल जिसमें स्त्रियों ने कम बोला था, सांस्थानिक व्यवस्था में अधिक व्यापक है। यह जानना आवश्यक है कि सभाओं के संचालन को लेकर होने वाले प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष संघर्ष व्यर्थ ही नहीं किये जाते। उनका संबंध सांस्थानिक शक्ति के नियंत्रण और उसके प्रयोग से होता है। यहाँ तक कि समान प्रतिष्ठा वालों के बीच भी, जैसा कि हमने इस उदाहरण में देखा, सभा जैसे सांस्कृतिक क्रियाकलाप आदि भी लैंगिक रूप से निष्पक्ष नहीं होते और उनका पलड़ा हमेशा मर्दवादी प्रयुक्तियों की ओर झुका होता है।

मेरा सुझाव है कि एडेलस्की के कार्य का पुनर्अध्ययन मेरे द्वारा रेखांकित शक्ति की अवधारणा के अंतर्गत होना चाहिए। जैसा कि प्रतीकात्मक वर्चस्व के उत्कृष्ट उदाहरणों में होता है। सभाओं का आयोजन इस बात को छिपा लेता है कि वक्ताओं को लिंग के आधार पर बोलने का मौका दिया जाता है पर हम वैश्विक दृष्टिकोण या मूल्य प्रणाली के बारे में भी पूछ सकते हैं जो विभिन्न प्रकार के 'तलों' द्वारा मंचित की जाती है और तब हम दोनों को अलग-अलग नहीं, बल्कि परस्पर निर्भर पाते हैं, जिन्हें अमेरिकी संस्कृति में परस्पर विरोधी देखा जाता है। पुरुषों के लिए अधिक श्रेष्ठ तल वह होता है, जिसमें प्रतिस्पर्धा एवं हीरोइक वैयक्तिकता के दृश्यों और योजना एवं क्रम-परम्परा (Hierarchy) की प्रशंसा होती है। दूसरे प्रकार का तल एक तरह से प्रथम प्रकार के तल का आलोचक है। इस तल में बंधुत्व, सहयोग और सहकारिता को बढ़ावा दिया जाता है। जब स्त्रियों ने दूसरे प्रकार के तल का निर्माण किया तो वे उस प्रभुत्ववादी तल का विरोध कर रही थीं। सोचने की बात यह है कि किस प्रकार एक श्रेणी के मूल्य एक लिंग से जुड़े हैं और दूसरी श्रेणी के मूल्य अन्य लिंग से। यह एक वैचारिक और मेल-मिलाप की प्रक्रिया है, जिस पर समाजवैज्ञानिकों द्वारा और ध्यान दिया जाना चाहिए (देखें ओश 1992)।

मेरा दूसरा उदाहरण मिस्र के पश्चिमी रेगिस्तानों में रहने वाले बिदोयून बाशिंदों के लोक काव्य से है। इस तरह की कोमल, संक्षिप्त और कलात्मक रचनाओं का विवेचन

करते हुए लीला अबु-लुघोड (1986) कहती हैं— “बिदोयून लोगों के प्रभुत्ववादी विचार जिसे वे ‘सार्वजनिक भाषा’ (रूपक के रूप में) कहती हैं, सम्मान, स्वायत्तता, स्वनियंत्रण, व्यक्तिगत बल और यौन संयम में निहित है।” ये कविताएं प्रत्यक्ष रूप से आधिकारिक दृष्टिकोण को चुनौती देती हैं जिसमें प्रेम, भावनाओं आदि का कोई स्थान नहीं होता। इस प्रकार के काव्य को अबु-लुघोड ‘भिन्न मतावलंबी प्रोक्ति’ कहती हैं, जो मुख्यतः युवाओं एवं महिलाओं द्वारा प्रयोग में लाई जाती है। यह काव्य, व्यवस्था और उसे चलाने वालों के खिलाफ की जाने वाली प्रोक्ति है (251)।

परन्तु काव्य तो संवेदनाओं की धारा है। यह सच है कि इसकी विशेषताएँ इसे आधिकारिक आदर्शों के खिलाफ एक सशक्त और सक्षम माध्यम बनाती है। इन्हें सुनकर लिखने वाले का नाम, पता और विषय का ज्ञान नहीं होता। ये उड़नशील और अनेकार्थी हैं, जिन्हें स्त्रियाँ एवं युवा अपने लोगों के बीच गाते हैं। श्रोता उनके अर्थों को भलीभाँति समझ सकते हैं क्योंकि वे कविता पढ़ने वाले को पहचानते हैं। फिर भी इस विरोधी प्रवृत्ति के काव्य को न सिर्फ सहन किया जाता है, बल्कि इसका सांस्कृतिक रूप में विस्तरण एवं प्रशंसा भी की जाती है। यह मौखिक काव्य बिदोयून लोगों के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के अंदरूनी जद्दोजहद का परिचायक है। जहाँ वे एक तरफ परिवार एवं वंश परम्परा में समानता और स्वायत्तता की बात करते हैं, वहीं दूसरी तरफ वही लोग लिंगों और पीढ़ियों के बीच असमानता की माँग करते हैं। स्त्रियों और युवाओं की यही शाब्दिक शैली सत्ताधारी विचारों की असंगतियों को दिखलाती है।

## उपसंहार

कुल मिलाकर मैं यही कहना चाहूँगी कि सत्ता निर्णय लेने की प्रक्रिया में भाग लेने के अवसर से सत्ता का मामला कहीं अधिक अर्थपूर्ण है। इस निर्णय लेने की प्रक्रिया में अवसर को ही शुरुआती स्त्रीवादी सिद्धांतवादियों ने अनौपचारिक या सूक्ष्म-राजनीति कहा है (उदाहरण स्वरूप रोसाल्डो 1974)। वर्चस्व और प्रतिरोध की धारणाएँ हमें सचेत करती हैं कि सत्ता का सबसे प्रभावकारी रूप वह होता है, जब हम दूसरों को अपने नजरिये से दुनिया या सामाजिक सत्य को देखने के लिए विवश कर सकते हैं। यह भी सच है कि ऐसा नजरिया भाषा में निहित होता है और मेल-मिलाप में ही अभिप्राणित होता है। यद्यपि स्त्रियों के रोज़ाना के वार्तालापों और ‘स्त्रियों की आवाजों’ या चेतना का अलग से अध्ययन हो चुका है, तथापि मेरा विचार है कि दोनों को प्रबल आधिपत्यवादी सांस्कृतिक व्यवहारों के खिलाफ जुटी योजनाबद्ध प्रतिक्रियाएँ माना जा सकता है। अतः भाषाई विवरण, व्यवहार के सन्दर्भ और प्रबल रूपों की प्रकृति के ऊपर ध्यान देना दोनों अध्ययनों के लिए आवश्यक है। प्रश्नों और बोलने के अवसरों के सार को समझना अमेरिका सभाओं के (रोज़मर्रा के वार्तालापों) विभिन्न तलों (Floors) के ढाँचे को समझने के लिए अनिवार्य है। इसी तरह अंतरंग बिदोयून काव्य (बोलने की शैली) की सटीक परम्पराओं को समझे बिना हम यह नहीं जान सकते कि नज़ाकत और निर्भरता से यह किस प्रकार जुड़ा है। हालांकि दोनों की भाषाई सामग्रियाँ काफी अलग-अलग हैं, परन्तु दोनों परस्पर सहयोगी तल (Floor) और अंतरंग बिदोयून काव्य प्रबल मान्यताओं के जवाब में विरोधी मान्यताओं को खड़ा करते हैं। पहला सभाओं के उस वशानुगत रूप और विचारधारा का विरोध करता है जिसमें प्रतिस्पर्धापरक वार्तालाप में पुरुषों की



प्रधानता होती है, और दूसरा सम्मान की संस्कृति का विरोध करता है, जिसमें वृद्ध पुरुषों के अवैध प्राधिकार का तिरस्कार भी शामिल है।

यह हमें उसी जगह पर वापस ले जाता है जहाँ मैंने स्त्रियों, पुरुषों और भाषा से जुड़ी सांस्कृतिक संरचनाओं की बात शुरू की थी। ये सभी सांस्कृतिक संरचनाएं सबसे पहले भाषाई विचारधाराएं हैं, जो वार्तालाप के पटल पर लिंगों को बाँटते हैं। इन भाषाई विचारधाराओं के अंतर्गत ही विशिष्ट भाषाई रूप जैसे मौन, व्यवधान या प्रियोक्ति आदि को विशिष्ट अर्थ प्राप्त होते हैं। सभी विचारधाराओं की तरह ये भी सामाजिक हैसियत से जुड़े होते हैं और स्वयं ही सत्ता के स्रोत होते हैं। इन विचारों का मंचन और कभी-कभी विरोध वार्तालापों में होता है। मेरा सोचना है कि जिस अनुसंधान का वर्णन मैंने किया है वह समाज भाषाविज्ञान, सांस्कृतिक अध्ययन और सामाजिक सिद्धांतों के अंतर्गत लिंग और भाषा के अध्ययन के क्षेत्र में भविष्य में नवसृजन का कार्य करेगा।

बहुत सारे अध्ययन इसी भाषाई विचारधारा के क्षेत्र, स्त्रियों की भाषा और लिंग के वर्गों की प्रबल परिभाषा के खिलाफ खड़े स्त्रियों के विभिन्न प्रतिरोधों का अध्ययन करते हैं। उदाहरण स्वरूप लौरेल सट्टन (1995) और शीगेको ओकामोतो (1995) हमें सचेत करती हैं कि व्यक्तिगत भाषाई रूपों के सामाजिक अर्थों को हम ऐसे ही नहीं ले सकते हैं। वक्ता अपनी भाषा को पुनर्परिभाषित करते हैं, ताकि विशिष्ट सामाजिक संदर्भों में (अप्रत्यक्ष विद्रोही विचारधाराओं के अंतर्गत) अपशब्दों को बंधुत्व से भरे शब्दों के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। उसी तरह रूढ़िबद्ध पुरुष रूपों का जब महिलाएं प्रयोग करती हैं, तब उनका आशय यौवन, जीवन्तता और प्रतिकार से होता है। यद्यपि शीगेको ओकामोतो के जापानी कॉलेज छात्राओं का सैम्पल सामाजिक रूप में समशील है, परन्तु वहाँ पुरुष भाषा से जुड़े रूपों के प्रयोग में अनोखी विविधता दिखाई देती है। यह ओकामोतो को स्त्रियों की भाषा के इस विश्लेषणात्मक वर्ग पर सवाल उठाने के लिए विवश करता है। यह बोध ही काफी नहीं है कि यह विश्लेषणात्मक वर्ग एकात्मक है, बल्कि महत्वपूर्ण यह है कि यह एक विश्लेषणात्मक वर्ग है ही नहीं। यह एक बड़े वैचारिक ढाँचे का भी निर्माण करता है, जिसमें भाषा, वर्ग, क्षेत्र और लिंग एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि हमें मेइजी युग में मिलती है। जैसा ओकामोतो हमें दिखाती हैं, इस जटिल विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में ही जापानी स्त्रियाँ योजनाबद्ध रूप में वार्तालापों में नई पहचानों का सृजन करती हैं।

अन्ना लिविया (1995) के बुच (Butch) एवं फेम्मे (Femme) भाषा का काल्पनिक चित्रण करने वाले अध्याय का विषय भी वार्तालाप में पहचानों का ऐतिहासिक निर्माण ही है। यह सच है कि वक्ता के लिंग (Sex of the speaker) और उसके द्वारा बनाये हुए भाषाई रूपों का विश्लेषणात्मक दृष्टि से बहुत कम महत्व है। लिविया यह पूछती हैं कि किस तरह काल्पनिक सामग्रियों में पुरुष-सुलभ एवं स्त्री-सुलभ दृश्यों का निर्माण होता है, और ये दृश्य किस प्रकार एक-दूसरे के ऊपर स्त्री/पुरुष विचारधाराओं को लागू करते हैं। लिविया का कार्य विशेष रूप से विचारधारा, प्रदर्शन और रोज़ाना के प्रयोगों के वियोजन को लेकर संवेदनशील है। बुच एवं फेम्मे भाषा के काल्पनिक प्रदर्शन में वे रोज़ाना के वार्तालापों या रूढ़िबद्ध दृष्टांतों की नकल नहीं देखती हैं, बल्कि पहले के साहित्यिक उदाहरणों का बार-बार प्रयोग होता देखती हैं।

दूसरी ओर कीरा हॉल (1995) स्त्रियों की भाषा को यौन उपभोग की वस्तु मानती हैं। जैसा कि ऊपर के उदाहरणों में हमने देखा कि, 'वयस्क सूचना उद्योग' में काम करने वाली स्त्रियों के सैक्स से जुड़े वार्तालापों को सिर्फ यौन उपभोग से जुड़ा हुआ नहीं

माना जा सकता, बल्कि पूरे संवाद की प्रक्रिया ही उससे जुड़ी हुई है। 'फेन्टेसी फोन लाइन्स' पर काम करने वाली स्त्रियों पर अनुसंधान कर रहे लोगों ने बताया है कि वे स्त्रियाँ अपने आपको स्त्रीवादी मानती हैं। वह भाषा जो प्रायः एक कमजोर और यौन उपभोग की वस्तु मानी जाती है, उन स्त्रियों के लिए आर्थिक स्वायत्तता का एक सशक्त माध्यम है। हॉल यह भी कहती हैं कि ऐसी स्त्रियों को अपने उद्योग में उन्हीं प्रतिकूल दृश्यों को प्रस्तुत करना पड़ता है जिनसे वे दूरी बनाना चाहती हैं।

अन्त में बोनी मैकएलहिनी (1995) के पिट्सबर्ग की महिला पुलिस अधिकारियों का शानदार अध्ययन सहानुभूति या क्रोध की क्षेत्रीय परिभाषाओं, मुँह छिपाने जैसे भाषाई प्रयोग और स्त्री-सुलभता एवं पुरुष-सुलभता की धारणाओं के विरोध आदि पर नये सवाल उठाता है। दरअसल लिंग एवं भाषा पर किए गए ज्यादातर अनुसंधानों के ठीक विपरीत मैकएलहिनी यह बताती हैं कि लिंग हमेशा प्रासंगिक नहीं होता। महिला पुलिस अधिकारी अपनी जरूरत के हिसाब से अपने रोजाना के वार्तालापों में पुरुष-सुलभता और स्त्री-सुलभता के नये आयाम बनाती हैं।

हमने देखा कि दिन प्रतिदिन के व्यवहारों पर बराबर ध्यान देने से और दूसरी ओर स्त्री-पुरुषों के बारे में वैचारिक समझ, और भाषा की समझ जो इन व्यवहारों को विशिष्ट सामाजिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भों और सामाजिक संस्थानों में संभव बना पाती है, ने लिंग एवं भाषा के अध्ययन को सम्पुष्ट किया है। ये अध्याय 'स्त्रियों और पुरुषों की भाषा' या 'अंतर बनाम प्रभुत्व' के विवादों जैसी धारणाओं से कहीं आगे जाते हैं और भाषाई विचारधाराओं की सत्ताधारी शक्ति और वक्ताओं द्वारा इनके विरुद्ध किए गए प्रतिरोध, पैराडी, प्रतिस्पर्धा, उच्छेदन और कभी-कभी उनके समायोजन का विश्लेषण करते हैं।\*

**\*आभार :** इस लेख का थोड़ा लंबा और भिन्न रूपांतर मिकाला डी लिओनार्डो (1991) के *Gender at the Crossroads of Knowledge*, Berkeley : University of California Press, 175-203. में प्रकाशित है।